प्राचीन भारतीय दण्डनीति

जैन साहित्य में वर्णित

—डॉ० तेजसिंह गौड़
११ अंकपात मार्ग, गली नं० २, काजीबाड़ा उज्जैन (म. प्र.) ४५६००६

जैन आगम साहित्य तथा अन्य जैन साहित्य का अध्ययन अभी तक जैनधर्म-दर्शन के लिए हुआ उतना अन्य विषय के लिए नहीं हुआ। यह माना कि जैन आगम साहित्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। उनमें जैनधर्म और दर्शन विषयक विपुल सामग्री है। इसका अर्थ यह तो नहीं कि उन ग्रन्थों में अन्य विषयों से सम्बन्धित सामग्री नहीं है। धर्म-दर्शन-प्रधान ग्रन्थ विषय होते हुए भी इन ग्रन्थों में इतिहास, समाजशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, राजनीति विज्ञान, प्रभृति विषयों से सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। जैन अध्येता-मुनियों ने धर्मदर्शन के अतिरिक्त कुछ कार्य ज्योतिष पर भी किया है। यदि व्यवस्थित रूप से इन आगम ग्रन्थों और इनसे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये तो उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित नई-नई जानकारियाँ मिल सकती हैं। इस लघु निबन्ध में जैन साहित्य में वर्णित दण्डनीति पर संक्षेप में विचार करने का प्रयास किया जा रहा है। अभी तक जनमानस के सम्मुख इस प्रकार की सामग्री प्रकाश में नहीं आई है या लाने का प्रयास ही नहीं किया गया है। यदि इस निबन्ध से कहीं आगे कुछ कार्य होता है तो मैं अपना यह प्रयास सार्थक समझूंगा। इस निबन्ध से जैन साहित्य में वर्णित दण्डनीति का विकास और स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी।

इस प्रकार के संकेत हैं कि जैन साहित्य के अनुसार प्रारम्भ में सतयुग जैसी स्थिति थी। किसी प्रकार का कोई झगड़ा-फसाद नहीं था। कुलकरों की व्यवस्था के अन्तर्गत सब कार्य सुचारु रूप से चल रहे थे किन्तु जैसे-जैसे कल्पवृक्षों की क्षीणता बढ़ती गई वैसे-वैसे युगलों का उन पर ममत्व बढ़ने लगा। इससे कलह और वैमनस्य की भावना का जन्म हुआ और अपराधों का भी जन्म हुआ। इससे समाज में अव्यवस्था फैलने लगी। जन-जीवन त्रस्त हो उठा और तब अपराधी मनोवृत्ति को दबाने के उपाय खोजे जाने लगे। उसी के परिणामस्वरूप दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक ही होगा कि इसके पूर्व किसी प्रकार की कोई दण्डनीति नहीं थी, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। जैन साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम 'हाकार', 'माकार' और 'धिक्कार नीति' का प्रचलन हुआ। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

---

१. दण्डः अपराधिनामनुशासनस्तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः तयो दण्डनीति।
—स्थानांगवृत्ति प. ३९९–४०१

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाकार नीति—इस नीति का प्रचलन कुलकर विमलवाहन के समय हुआ। इस नीति के अनुसार अपराधी को खेदपूर्वक प्रताड़ित किया जाता था—'हा !' अर्थात्—तुमने यह क्या किया ? देखने में यह केवल शब्द-प्रताड़ना है किन्तु यह दण्ड भी उस समय का बहुत बड़ा दण्ड था। इस 'हा' शब्द से प्रताड़ित होने मात्र से ही अपराधी पानी-पानी हो जाता था। इसका कारण यह था कि उस समय का मनुष्य वर्तमान काल के मनुष्य की भाँति उच्छृंखल एवं मर्यादाहीन नहीं था। वह तो स्वभाव से संकोची और लज्जाशील था। इसलिए इस 'हा' वाले दण्ड को भी वह ऐसा समझता था मानो उसे मृत्युदण्ड मिल रहा हो।[1] यह नीति कुलकर चक्षुष्मान के समय तक बराबर चलती रही।

माकार नीति—कोई एक प्रकार की नीति स्थाई नहीं होती है। यही बात प्रथम 'हाकार' नीति के लिए भी सत्य प्रमाणित हुई। 'हाकार' नीति जब विफल होने लगी तो अपराधों में और वृद्धि होने लगी, तब किसी नवीन नीति की आवश्यकता अनुभव को जाने लगी। तब चक्षुष्मान के तृतीय पुत्र कुलकर यशस्वी ने अपराध भेद कर अर्थात्—छोटे-बड़े अपराध के मान से अलग-अलग नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया। छोटे अपराधों के लिए तो 'हाकार नीति' का ही प्रयोग रखा तथा बड़े अपराधों के लिए 'माकार नीति' का प्रयोग आरम्भ किया।[2] यदि इससे भी अधिक कोई अपराध करता तो ऐसे अपराधी को दोनों प्रकार की नीतियों से दण्डित करना प्रारम्भ किया।[3] 'माकार' का अर्थ था—'मत करो।' यह एक निषेधात्मक महान दण्ड था। इन दोनों प्रकार की दण्डनीतियों से व्यवस्थापन कार्य यशस्वी के पुत्र 'अभिचन्द्र' तक चलता रहा।

धिक्कार नीति—समाज में अभाव बढ़ता जा रहा था। उसके साथ ही असन्तोष भी बढ़ रहा था। जिसके परिणामस्वरूप उच्छृंखलता और धृष्टता का भी एक प्रकार से विकास ही हो रहा था। ऐसी स्थिति में हाकार और माकार नीति से कब तक व्यवस्था चल सकती थी। एक दिन माकार नीति भी विफल होती दिखाई देने लगी और अब उसके स्थान पर किसी नई नीति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। तब 'माकार नीति' की असफलता से 'धिक्कार नीति' का जन्म हुआ।[4] यह नीति कुलकर प्रसेनजित से लेकर अन्तिम कुलकर नभिराय तक चलती रही। इस 'धिक्कार नीति' के अनुसार अपराधी को कहा जाता था—'धिक्' अर्थात् तुझे धिक्कार है, जो ऐसा कार्य किया।

जैन विद्या के सुविख्यात विद्वान उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने अपराधों के मान से इन नीतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

जघन्य अपराध वालों के किए 'खेद'

मध्यम अपराध वालों के लिए 'निषेध' और

उत्कृष्ट अपराध वालों के लिए 'तिरस्कार' सूचक दण्ड मृत्युदण्ड से भी अधिक प्रभावशाली थे।[5]

कुलकर नाभि तक अपराध वृत्ति का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था, क्योंकि उस युग का मानव स्वभाव से सरल और हृदय से कोमल था।[6]

अन्तिम कुलकर नाभि के समय में ही जब उनके द्वारा अपराध निरोध के लिए निर्धारित की गई धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा और अपराध निवारण में उनकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई, तब युगलिक लोग घबरा कर ऋषभदेव के पास आए और उन्हें वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की प्रार्थना की।

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार, ७६

२ स्थानांगवृत्ति प. ३९९

३ त्रिषष्टिशलाका १/२/१७६—१७९

४ स्थानांगवृत्ति प. ३९९

५ ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृष्ठ १२३

६ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार—सूत्र १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषभदेव ने कहा—"जनता में अपराधी मनोवृत्ति नहीं फैले और मर्यादाओं का यथोचित पालन हो उसके लिए तीन प्रकार की दण्ड व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था, अब कालानुसार अपराधों में वृद्धि हो रही है, मर्यादाओं का अतिक्रमण हो रहा है उनके शमन-निमित्त अन्य दण्ड व्यवस्थाओं का विधान आवश्यक हो गया है और यह व्यवस्था राजा ही कर सकता है क्योंकि शक्ति के समस्त स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं।"[1] तत्पश्चात् ऋषभदेव प्रथम राजा बने और उन्होंने सारी व्यवस्था की। ऋषभदेव ने अपने शासनकाल में दण्ड नीति का जो निर्धारण किया उसका विवरण साहित्य मनीषी उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी[2] ने इस प्रकार दिया है—

"शासन की सुव्यवस्था के लिए दण्ड परम आवश्यक है। दण्डनीति सर्व अनीति रूपी सर्पों को वश में करने के लिए विषविद्यावत् है। अपराधी को उचित दण्ड न दिया जाये तो अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी एवं बुराइयों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकेगी। अतः ऋषभदेव ने अपने समय में चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था निर्मित की।

(१) परिभाष, (१) मण्डल बन्ध, (३) चारक, (४) छविच्छेद।

परिभाष—कुछ समय के लिए अपराधी व्यक्ति को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।

मण्डल बन्ध—सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।

चारक—बन्दीगृह में बन्द रहने का दण्ड देना।

छविच्छेद—करादि अंगोपांगों के छेदन का दण्ड देना।

ये चार नीतियाँ कब चलीं, इनमें विद्वानों में विभिन्न मत हैं। कुछ विज्ञों का मन्तव्य है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय चलीं और और दो भरत के समय। आचार्य अभयदेव के मन्तव्यानुसार ये चारों नीतियाँ भरत के समय चलीं। (स्थानांग वृत्ति ७/३/५५७, आवश्यक भाष्य गाथा ३)। आचार्य भद्रबाहु और आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय में आरम्भ हो गये थे। (आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा २१७, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, १९९-२०२)। और मृत्यु दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ। (आवश्यकनिर्युक्ति २१८, १९९/२)। जिनसेनाचार्य के अनुसार बध-बन्धनादि शारीरिक दण्ड भरत के समय चले। (महापुराण ३/२१६/६५) उस समय तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जो अपराध के अनुसार दिये जाते थे—(१) अर्थहरण दण्ड (२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड (३) प्राणहरण रूप दण्ड। (आदि पुराण : ४२/१६४)।"

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री संस्कृत, प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् तो हैं ही, वे आगम मर्मज्ञ भी हैं। अनेकानेक ग्रन्थों का आलोड़न कर अद्यावधि आपने अनेक अमूल्य ग्रन्थ रत्नों से माँ भारती के भण्डार की अभिवृद्धि की है। 'भगवान् महावीर : एक अनुशीलन' नामक शोध प्रधान ग्रंथ में आपने उत्तराध्ययन सुखबोधा, अंगुत्तर निकाय, निशीथ-भाष्य, उत्तराध्ययन चूर्णि, उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, ज्ञातृधर्मकथा, दशकुमार चरित, विपाक सूत्र, प्रश्न व्याकरण आदि ग्रन्थों के आधार पर अपराधों और

---

१ ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृष्ठ १४०

२. वही, पृष्ठ १४३-१४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्ड-विधान पर संक्षेप जो विवरण दिया है, वह अपराध शास्त्र पर ग्रन्थ तैयार करने के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करता है। उसी को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चोर-कर्म—उस समय अपराधों में चौर्य-कर्म प्रमुख था। चोरों के अनेक वर्ग इधर-उधर कार्य-रत रहते थे। लोगों को चोरों का आतंक हमेशा बना रहता था। चोरों के अनेक प्रकार थे—

(१) आमोष—धन-माल को लूटने वाले।

(२) लोमहार—धन के साथ ही प्राणों को लूटने वाले।

(३) ग्रन्थि-भेदक—ग्रन्थि-भेद करने वाले।

(४) तस्कर—प्रतिदिन चोरी करने वाले।

(५) कण्णुहर—कन्याओं का अपहरण करने वाले।

लोमहार अत्यन्त क्रूर होते थे। वे अपने आपको बचाने के लिए मानवों की हत्या कर देते थे। ग्रन्थि भेदक के पास विशेष प्रकार की कैंचियाँ होती थी जो गाँठों को काटकर धन का अपहरण करते थे।

निशीथभाष्य में आक्रान्त, प्राकृतिक, ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अन्तरस्तेन, अध्वानस्तेन और खेतों को खनकर चोरी करने वाले चोरों का उल्लेख है।

कितने ही चोर धन की तरह स्त्री-पुरुषों को भी चुरा ले जाते थे। कितने ही चोर इतने निष्ठुर होते थे कि वे चुराया हुआ अपना माल छिपाने को अपने कुटुम्बीजनों को मार भी देते थे। एक चोर अपना सम्पूर्ण धन एक कुएँ में रखता था। एक दिन उसकी पत्नी ने उसे देख लिया, भेद खुलने के भय से उसने अपनी पत्नी को ही मार दिया। उसका पुत्र चिल्लाया और लोगों ने उसे पकड़ लिया।

उस समय चोर अनेक तरह से सेंध लगाया करते थे—१. कपिशीर्षाकार २. कलशाकृति ३. नंदा-वर्त संस्थान ४. पद्माकृति ५. पुरुषाकृति ६. श्रीवत्स संस्थान।

चोर पानी की मशक और तालोद्घाटिनी विद्या आदि उपकरणों से सज्जित होकर प्रायः रात्रि के समय अपने साथियों के साथ निकला करते थे।

चोर अपने साथियों के साथ चोरपल्लियों में रहा करते थे। चोरपल्लियाँ विषम पर्वत और गहन अटवी में हुआ करती थीं। जहाँ पर किसी का पहुँचना सम्भव नहीं था।

दण्ड-विधान—चोरी करने पर भयंकर दण्ड दिया जाता था। उस समय दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर थी। राजा चोरों को जीते जी लोहे के कुम्भ में बन्द कर देते थे, उनके हाथ कटवा देते थे। शूली पर चढ़ा देते थे। कभी अपराधी की कोड़ों से पूजा करते। चोरों को वस्त्र युगल पहनाकर गले में कनेर के फूलों की माला डालते और उनके शरीर को तेल से सिक्त कर भस्म लगाते और चौराहों पर घुमाते व लातों, घूसों, डण्डों और कोड़ों से पीटते। ओंठ, नाक और कान काट देते, रक्त से मुँह को लिप्त करके फूटा ढोल बजाते हुए अपराधों की उद्घोषणा करते।

तस्करों की तरह परदारगमन करने वालों को भी सिर मुंड़ाना, तर्जन, ताड़ना, लिंगछेदन, निर्वासन और मृत्युदण्ड दिये जाते थे। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी दण्ड की भागी होती थीं, किन्तु गर्भवती स्त्रियों को क्षमा कर दिया जाता था। हत्या करने वाले को अर्थदण्ड और मृत्युदण्ड दोनों दिये जाते थे।'[1]

कारागृह का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

'कारागृह की दशा बड़ी दयनीय थी। अपरा-

---

१. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८२-८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धियों को दारुण कष्ट दिए जाते। उन्हें वहाँ पर क्षुधा, तृषा और शीत-उष्ण आदि अनेक तरह के कष्ट सहन करने पड़ते थे। उनका मुख म्लान हो जाता था। अपने ही मल-मूत्र में पड़े रहने के कारण उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते, उनका प्राणान्त हो जाने के पश्चात् उनके पैर में रस्सी बाँधकर खाई में फेंक देते। भेड़िए, कुत्ते, शृगाल, मार्जार आदि वन्य पशु उनका भक्षण कर जाते।

कैदियों को विविध प्रकार के बन्धनों से बाँधते। बाँस, बेंत व चमड़े के चाबुक से उन्हें मारते थे। लोहे की तीक्ष्ण शलाकाओं से, सूचिकाओं से उनके शरीर को बींध देते थे।[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समय के प्रवाह के साथ-साथ अपराधों में भी वृद्धि होती गई और उसके अनुरूप ही दण्ड व्यवस्था में भी परिवर्तन होता गया। कठोर दण्डनीति का विधान इसलिए किया गया प्रतीत होता है ताकि अपराध करने वाला दण्डनीति से डरकर अपराध न करे। कई बार इस प्रकार की कठोर नीति सफल भी रही है। मानस पटल पर एक विचार उद्भूत होता है कि जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, राग-द्वेष, मेरा-तेरा, हिंसा, चोरी-डकैती, तस्करी, अपहरण, बेईमानी जैसी भावनाएँ और अपराधों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का ठहराव कहाँ आएगा ? कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो इतना ही कहना है कि जैन साहित्य का समुचित अनुशीलन कर इस विषय पर व्यवस्थित रूप से विस्तार में लिखने की आवश्यकता है। हो सकता है कि जो लिखा जाए वह देश और समाज का मार्गदर्शन करे।

□

१. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८३-८४

(शेष पृष्ठ ३२२ का)

कर्म को गर्हित ही मानते हैं और इससे सदा बचने का प्रयास करते हैं।

वर्तमान युग में जितना भी तनाव, मानसिक कुण्ठाएँ और त्रास मनुष्य बरबस भुगत रहा है उसका एकमात्र उपाय अस्तेय का पालन, कठोरता के साथ, करना है। चोरी के नित नये हथकण्डों का आयोजन जैसे वह छोड़ देगा वैसे ही उसके समाज में व्यवस्था, शान्ति और समृद्धि भी आती जायेगी और वह अन्य व्रतों का पालन निष्ठापूर्वक करने लगेगा।

निष्कर्षतः जब परकीय वस्तु में किसी प्रकार का राग न होगा तो अस्तेय में प्रतिष्ठित होकर साधक की रत्नों में प्रतिष्ठा हो जाती है और लक्ष्मी उसकी चेरी बन जाती है। जैनेतर भारतीय समाज की अपेक्षा आज भी जैन समाज में व्रतों का पालन बड़ी निष्ठा और आस्था से किया जाता है। यही कारण है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर आज तक जैन धर्म अक्षुण्ण है।

□

—●—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org